P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-10* (Part-1) January 219
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

प्राचीन भारतीय शिक्षा में गुरू – शिष्य सम्बन्ध

सारांश

गुरू– शिष्य का सम्बन्ध अद्भुत और अद्वितीय है। इस सम्बन्ध की एक व्यवस्था है। शिष्य गुरू के अभिवृद्धि का एक साधन है, शिष्य के द्वारा गुरू की अभिवृद्धि होती है। यह सम्बन्ध इसलिये इतना घनिष्ट था कि इसकी स्मृति सदैव बनी रहती थी। जब शिष्य आगे बढता था तो गुरू का स्मरण करके आगे बढ़ता था, कृतज्ञता के भाव से भरा हुआ शिष्य सदैव स्मरण रखता था कि मैने यदि गुरू से शिक्षा न पाई होती तो मैं कहा से सीखता। यह स्मृति और आगे जाने का, गुरू के नाम को आगे बढ़ाने का उत्साह, गुरू ओर शिष्य के मध्य निरन्तर, अटूट, अबूझ संवाद का सेतु निर्मित करता था। कभी शिष्य ने अधिगम में अवरोध अनुभव किया तुरन्त गुरू के पास गया, परामर्श हुआ और अवरोध समाप्त होकर प्रगति की यात्रा आगे बढ गयी। इतनी आगे बढ़ी कि गुरू से भी आगे निकल गया। गुरू इस प्रगति से आनन्द से भर गया क्यों कि व्यक्ति सबसे जीतने की अभिलाषा रखता है किन्तु शिष्य और पुत्र से जब वह हारता है तो उसकी सबसे बड़ी विजय श्री होती है।

ममता शुक्ला
विभागाध्यक्षा,
बी0एड0 विभाग,
विवेकानन्द ग्रामोद्योग महाविद्यालय,
दिबियापुर, औरैया

कौशलेन्द्र तिवारी
शोधार्थी,
बी0एड0 विभाग,
दयानन्द महिला प्रशिक्षण महाविद्यालय,
कानपुर

मुख्य शब्द : गुरू– शिष्य सम्बन्ध, भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा।

प्रस्तावना

मानव मस्तिष्क के इतिहास में भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा शक्तिशाली एवं भावपूर्ण रही है। इसमें ज्ञान की ऐसी प्रणाली विकसित हुई जिसने न केवल वैदिक साहित्य को सुरक्षित रखा वरन् ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में मौलिक विचारकों को भी जन्म दिया। प्राचीन मनीषियों ने राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण में समर्थ एक ऐसी विलक्षण शिक्षण पद्धति को जन्म दिया, जिसे हम मानवता की महत्वपूर्ण उपलब्धि मान सकते हैं। भारतीय ऋषियों ने मानव की अन्तः शाक्ति को पूर्ण रूप से विकसित कर देना ही प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रथम और अंतिम लक्ष्य माना।

भारत में, विशेष रूप से वैदिक भारत में गुरू को साक्षात् परमेश्वर माना गया है एवं इनकी महिमा का वर्णन अत्यन्त मनोयोग से किया गया है। गुरू शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हुए श्री गुरू गीता में श्री महादेव जी स्वयं कहते है–

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद गुरूरित्यभिधीयते।।
गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रूकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रन्ति विमोचकः।।
गकारः सिद्धिदःप्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उकारः शम्भुरित्युक्त स्त्रितयाऽडत्मा गुरूः स्मृतः।।

गु शब्द का अर्थ अंधकार और रू शब्द का अर्थ तम का नाश करना है। इस कारण जो अज्ञान रूप अंधकार का नाश करते है, वे ही गुरू शब्द वाच्य हैं। गुरू शब्द के प्रथम वर्ण गु से माया आदि गुण प्रकाशित होता है और द्वितीय वर्ण रू से ब्रहा में जो माया का भ्रम है उसका नाश होता हैं। इस कारण गु शब्द सगुण को और रू शब्द निर्गुण अवस्था को प्रतिपन्न करके गुरू शब्द बना है। गकार का अर्थ सिद्धि दाता, रकार का अर्थ पापहर्त्ता और उकार का अर्थ शिव है।

अर्थात् सिद्धिदाता शिव और पापहर्त्ता शिव ऐसा।

ग– 3 बोधक गुरू शब्द से समझाना उचित है। गुरू के श्रेष्ठ होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए भी गुरूगीता में कहा गया हैः–

जन्म हेतु हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नतः।
गुरू विशेषतः पूज्यों धर्म्माऽधर्म्म प्रदर्शकः।।
गुरूः पिता गुरूर्माता गुरूर्देवों गुरूर्गतिः।
शिवे रूष्टे गुरूस्त्राता गुरौ रूष्टे न कश्चन्।।

माता और पिता जन्म देने के कारण पूजनीय हैं किन्तु गुरू धर्म और अधर्म का ज्ञान कराने वाले हैं। इस कारण उनका पूजन पितृगण से भी अधिक यत्न करके करना उचित है। गुरू ही पिता है गुरू ही माता हैं, गुरू ही देवता हैं, गुरू ही सद्गतिरूप हैं। परमेश्वर के रूष्ट होने पर तो गुरू बचाने वाले है परन्तु गुरू के अप्रसन्न होने पर कोई भी ऋणदाता नहीं है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य प्राचीन भारतीय शिक्षा में गुरू–शिष्य के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना और उसकी यथोचित उपयोगिता का आधुनिक शिक्षा पद्धति में लाभ उठाना है।

गुरू की महिमा एवं उनकी श्रेष्ठता का वर्णन करने के साथ यह भी बताया गया है कि गुरू की श्रेष्ठता किस प्रकार निर्धारित की जाए। इस प्रकारण में भी महादेव जी कहते हैः–

सर्त्वशासत्रषरो दक्षः सर्त्वशास्त्राथ वित्सदा।
सुवचाः सुन्दरः स्वंगः कुलीनः शुभ दर्शनः।।
जितेन्द्रियस्सत्यवादी ब्राह्मणश्शान्तमानसः।
मातृपितृहिते युक्तः सर्त्वकर्म्मपरायणः।।

सर्त्वशास्त्रों में पारंगत, चतुर, सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्ववेत्ता और मधुर वाक्य भाषण करने वाले, सब अंगो से पूर्ण और सुन्दर, कुलीन अर्थात सत्कुलोद्भव और दर्शन करने में मंगलमूर्ति हों। इन्द्रियॉ जिनकी सब अपने वशीभूत हो, सर्वदा सत्य भाषण करने वाले हों, ब्राहाण वर्ण हों, शान्त मानस अर्थात् जिनका मन कभी चंचल नहीं होता हों, माता–पिता के समान हित करने वाले हों, सम्पूर्ण कर्मो के अनुष्ठानशील हों।

उपनिषदों में अध्यात्म ज्ञान प्राप्ति के लिए आचार्य या गुरू की अपरिहार्यता कही गई हैं। इस विषय में महाभारत का 'न बिना गुरू संबंधंज्ञानस्याधिगमः कुतः। (महा0 शान्ति पर्व, 326–22)

यह वाक्य बहुत ही मननीय है कि गुरू के आदेशों का पालन करना तथा अपने आचरणों से गुरू को प्रसन्न रखना ये दो शिष्य के मुख्य कर्त्तव्य है– यह धर्मशास्त्र से जाना जाता है। गुरू जिससे प्रसन्न हों, वही गुरूदक्षिणा है– दक्षिणीपरितोषो वे गुरूणां सद्भिरूच्यतेः (महा0अश्वमेघ, 56–21)

यह भी महाभारत में कहा गया है। कभी–कभी अत्यंत कठिन प्रयत्न करके ही शिष्य दक्षिणा दे पाते थे। इसके भी उदाहरण मिलते हैं।

किस प्रकार के व्यक्ति को विद्या नहीं दी जानी चाहिए इस पर शास्त्रों के जो वचन मिलते हैं उनसे भी गुरूशिष्य सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जो गुरू के प्रति अकृतज्ञ हो, द्रोहभावना रखता हो, उसको विद्या नहीं दी जानी चाहिए यह जो मत सर्वज्ञ मिलता है इससे गुरू शिष्य सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। गुरू शिष्य सम्बन्ध को दिखाने के लिये अरणि

(आग जलाने की लकड़ी) की उपमा दी गई है। तैत्तिरीय (1.3.23) उपनिषद कहता है–

आचार्योरणिराद्यः स्याद अन्तेवास्युत्तरारिणः।
तत् सन्धान प्रवचनं विदाआ संधिः सुखावहः।।

आचार्य पूर्व रूप है, अन्तर्वासी उत्तर रूप है, (भागवत् – 11.10.12)

विद्या संधि है, प्रवचन संधानम् है, यह दृष्टि भागवत में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुई है।

कौन विद्यार्थी बाद में शास्त्रकार बनेंगे, इस विषय में महाभारत के अनुसार (महा0 – उद्योग पर्व,44–6) भारत के अतीत में शिक्षा गुरू के द्वारा संगठित तथा सुव्यवस्थित रूप से प्रदान की जाती थी। वैदिक काल में गुरू को देव रूप में प्रतिष्ठित किया गया। अग्नि प्रचेता (विशेषज्ञानी), विश्ववेदा (सर्वज्ञ), जातवेदा (जो कुछ उत्पन्न हुआ उसे जानने वाला), धियावस्तु (जिसकी बुद्धि ही धन है), सत्यजन्म (सत्य को जानने वाला, विश्वानि वयुनानि विद्वान (विविध विद्याओं का ज्ञाता), धीनां यन्ता (बद्धिको प्रगति देने वाला) आदि विशेषणों से गुरू को विभूषित किया जाता था। महाभारत में कहा गया है जो विद्यार्थी आचार्य के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाता है और ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वही शास्त्रकार होता है।

गुरू का जीवन शिष्य के लिये आदर्श होता था तथा, शिष्य अपने गुरू का अनुकरण करके पूर्णता को प्राप्त करते थे। गुरू के प्रति सम्मान, आस्था तथा विश्वास का भाव रखते हुए शिष्य गुरू – सेवा को अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे। शिक्षा वृत्ति, गुरू गृह की पवित्र अग्नि को प्रज्जवलित रखना गुरू के पशुओं को चराना आदि अनेक कार्य शिष्य द्वारा किये जाते थे। गुरू गृह में निवास करते हुए तथा ब्रहाचर्यव्रत का पालन करते हुए शिष्य शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करते थे। गुरू अपने शिष्यों को केवल अध्ययन की ओर ही नहीं अपितु उनके भोजन, वस्त्र चिकित्सा आदि के प्रति सचेत व जागरूक रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर रूग्णावस्था में गुरू शिष्य की परिचर्या भी करते थे।

गुरू प्रत्येक छात्र को उसकी योग्यता तथा मेधा के अनुसार उपयुक्त व पूर्ण ज्ञान प्रदान करते थे, उनके हृदय में यह विचार नहीं आता था कि यदि कोई छात्र उनसे अधिक ज्ञानवान हो गया तो इससे उनके सम्मान को ठेस लगेगी। जो छात्र योग्यतम व श्रेष्ठतम होते थे वे अपने से छोटी कक्षाओं के छात्रों का अध्यापन प्रायः करते थे तथा उन्हे भी गुरू के समान ही सम्मान प्राप्त था।

(तथा समादिष्टेडध्यापर्यात।
बृहतरेच स ब्रह्मचारिणि।।)

आचार्य उपनयनानो ब्रह्मचारिण वृणुते गर्भमन्तः (गो0ध0सू01–10, मनु02–170) अर्थात गुरू तथा शिष्य के प्रियतम संबंध को इस प्रकार प्रदर्शित किया गया हैं कि माता–पिता तो जन्म देते है जिससे यह स्थूल शरीर बनता है किन्तु मानसिक, नैतिक व आध्यात्मिक उन्नति तो गुरू ज्ञान से होती है जो कि मानस– पिता कहलाता था।

उदीच्यास्सामगाः शिष्यास्तस्य पंचशतं स्मृता।
(विष्णुपुराण–3–6–4)

विष्णुपुराण में आया है कि हिरण्य के 500 शिष्य थे, जिन्हे उन्होने सामवेद में निष्णात कर दिया था। श्री मद्भगवत गीता में श्री कृष्ण और अर्जुन के मध्य जो संवाद है वह गुरू– शिष्य सम्बन्ध का एक उत्कृष्ठ उदाहरण है। जिस प्रकार अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में

पूरी श्रद्धा एवं विश्वास के साथ योगेश्वर को पूरी तरह समर्पित हुए उतनी ही तत्परता के साथ योगेश्वर ने अपने इस परमप्रिय को शिष्य भाव से ग्रहण कर गुरू के स्थानापन्न हो गये।

तैत्तिरीयोपनिषद के तृतीय अनुवाहक में आचार्य अपने और शिष्य के अभ्युदय की इच्छा प्रकट करते हुए कहते हैं– सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।।

हम (आचार्य और शिष्य) दोनो का यश एक साथ बढ़े। एक साथ ही हम दोनो का ब्रह्म तेज भी बढ़े।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में गुरू और शिष्य का सम्बन्ध ऐसा सम्बन्ध था जिसमें एक दूसरे के कल्याण के अतिरिक्त और किसी भी विचार के लिये रंचमात्र भी स्थान नहीं है। गुरू निः संकोच सब कुछ देने को उद्यत है और शिष्य विनीत होकर सब कुछ समाहित करके उस ज्ञान को अपनी अगली पीढी को देकर गुरू ऋण से उऋण होने को तत्पर है। यही कारण है कि वंश परम्परा के साथ – साथ गुरूवंश परम्परा भी भारत में इतनी मजबूती से पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आ रही है। गुरू की आज्ञा का पालन तत्काल करने के उदाहरण भारतीय वांड्.गमय में भरे पडें हैं। गुरू पर प्रबल विश्वास के कारण ही गुरू की आज्ञा पालन करने के लिये उद्दालक खेत का बॉध बॉधने चला गया और पानी का प्रवाह जब नही रूका तो स्वयं मेड़ बन गया। वेदान्त पढ़ रहे ब्रहाचारी को मेड़ बनाने गुरू ने क्यों भेजा क्योंकि उसे यह प्रत्यक्षतः समझाना था कि मन जब विपरीत दिशा में जा रहा हो तो उसका नियंत्रण कैसे करना चाहिये। इस प्रकार वेदान्त के सिद्धान्तों को ही पुष्ट करने के लिये जीवन की शिक्षा देते हुए इस बात पर बल दिया गया कि प्रयोग करो तथा अपने आप निर्णय लो। इसी प्रकार आयुर्वेद के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक ने अपने गुरू से कहा मेरी परीक्षा लीजिए। गुरू ने उन्हें अपने साथ गॉवों में भ्रमण करने को कहा और वहॉ उनसे प्रत्येक दवा के गुण दोष पूछते रहे तथा उन्होंने कहा कि कोई ऐसी पत्ती या छाल लाओ जिसका कोई उपयोग नहीं हो। जीवक को ऐसी कोई पत्ती या छाल नहीं मिली तो गुरू ने कहा कि तुमने आज क्या सीखा है कि जीवन में कोई पदार्थ हेय नहीं है। समग्रजीवन उपयोगी है। इस उदाहरण से गुरू शिष्य सम्बन्ध एवं शिक्षा के द्वारा दोनों के जीवन की अन्तर्निहित मौलिकता का प्रकटीकरण स्पष्ट है। गुरू ज्ञान की आभा से दीप्त, धीर, गम्भीर, स्नेहयुक्त किन्तु अनुशासन प्रिय तथा शिष्य विनीत गुणयुक्त शिष्यत्व हेतु ली गयी समस्त परीक्षाओं को उत्तीर्ण करके गुरू कृपाका आकांक्षी शिष्य गुरू द्वारा दी जाने वाली ज्ञान की अजस्र धारा के एक बूँद के ग्रहण करके ज्ञान की चिर संचित पिपासी को शान्त करने के लिये पूर्ण समर्पण के साथ तत्पर। यह देना और लेना शुद्ध आध्यात्मिक परमेश्वर के आर्शीवाद से भरा हुआ था। वस्तुतः यही शिक्षा है जिसके कारण ही भारत प्राचीन काल में श्रेष्ठ नागरिकों से गवित तृप्त जगद्गुरू बन सका था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *श्री गुरुगीता 5,6,7,29,30,33,34*
2. *तैत्तिरीयोपनिषद 1–3–2–3*
3. *तैत्तिरीयोपनिषद – शिक्षा – वल्ली – तृतीय अनुवाक*
4. *भागवत् 11–10–12*
5. *महाभारत शान्तिपर्व 326–22*
6. *महाभारत अश्वमेघ 56–21*
7. *विष्णुपुराण 3–6–4*